गुणवत्ता सुधार में शिक्षक की भूमिका

संजीव बिजल्वाण

शिक्षा मानव जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण मसला है। एक सार्थक जीवन जीने के लिए व्यक्ति का शिक्षित होना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी है शिक्षा का गुणवत्तापूर्ण होना। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए कई तरह के प्रयास हमेशा से किए जाते रहे हैं।

यदि देश के शैक्षिक इतिहास पर नजर दौड़ाएं, तो स्वतः ही यह बात हमें समझ में आती है कि समय–समय पर विभिन्न आयोगों द्वारा देश की शिक्षा व्यवस्था में व्यापक बदलावों के माध्यम से शिक्षा में गुणवत्ता लाने की कोशिश की जाती रही है। सर्व शिक्षा अभियान या राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा योजना जैसी कुछ परियोजनाओं के माध्यम से ढांचागत विकास व शिक्षा में गुणवत्ता लाने के प्रयास किए जाते रहे हैं। इन तमाम प्रयासों के फलस्वरूप भौतिक रूप से शिक्षा में कुछ बेहतर अवश्य हुआ है, लेकिन फिर भी हमें शिक्षा की गुणवत्ता पर काम करने की जरूरत है। आज शिक्षाविद्ों व नीति–नियंताओं को अहसास होने लगा है कि बेहतर शिक्षा के लिए इसकी मुख्य कड़ी, यानी शिक्षक को केंद्र में रखना होगा। इसीलिए बारहवीं योजना में देशभर में शिक्षक–शिक्षा पर खासा जोर दिया जा रहा है। शिक्षक शिक्षा का काम करने वाले शैक्षिक संस्थानों को भी अधिक सक्षम व संसाधन सम्पन्न बनाया जा रहा है।

देश–काल की बदलती परिस्थितियों में शिक्षा के मायने बदले हैं। शिक्षण के तौर–तरीके भी बदल रहे हैं और समाज की अपेक्षाएं तो बदली ही हैं तो फिर शिक्षक और शिक्षार्थी की भूमिका बदलना तो स्वाभाविक ही है। अब व्यवहारवाद से रचनावाद की दिशा में आगे बढ़ने की तैयारी की जा रही है। दूसरी तरफ रचनावाद क्या है? इसे कैसे समझ जाए पर बहस जारी है। इसके चलते अब शिक्षा के सभी आयामों को एक नए नजरिए से देखने–समझने की जरूरत है। अब यह समझा जाने लगा है कि शिक्षक एक परमज्ञानी नहीं अपितु एक सुगमकर्ता की तरह है, बच्चा एक स्वतंत्र शिक्षार्थी के रूप में है, जो ज्ञान का सृजन करे न कि केवल ज्ञान को प्राप्त करे। अब ज्ञान कोई बनी–बनाई चीज की तरह नहीं बल्कि सृजित की जाने वाली एक प्रक्रिया की भांति है।

इन बदले संदर्भों, मायनों व भूमिकाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है शिक्षक और शिक्षार्थी की स्वतंत्रता। शिक्षक के स्वतंत्र होने पर सीखने–सिखाने की प्रक्रिया लचीली और संदर्भ व परिवेश आधारित होगी। शिक्षा की व्यापक व्यवस्था में कक्षा–शिक्षण एक ऐसा क्षेत्र है जिसके लिए शिक्षक सबसे अधिक जिम्मेदार होता है। पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम के लक्ष्य व उद्देश्य के रूप में तो पाठ्यपुस्तकें सहायक सामग्री के रूप में उपलब्ध होती ही हैं। इन सबका महत्त्व कक्षा–शिक्षण में तभी है, जब शिक्षक उन्हें अपने प्रयासों से जीवंत बनाता है, नहीं तो इनमें लिखी बातें केवल किताबी ज्ञान तक ही सीमित रह जाती हैं। कक्षा–शिक्षण से जुड़ी बातों के केंद्र में बच्चे और शिक्षक ही होते हैं। इनमें

होने वाली अंतःक्रियाएं ही शिक्षण को जीवंत और रोचक बनाती हैं। कौन सा बच्चा कैसे सीखता है, कौन सा बच्चा किस तरह की गतिविधियों में अधिक रुचि लेता है, कौन सी बातें हैं, जो बच्चों को सीखने के लिए अधिक प्रेरित करती हैं, आदि बातों को शिक्षक से बेहतर और कौन समझ सकता है। यह प्रक्रियाएं जितनी प्रभावी, रोचक और नियोजित होंगी, शिक्षण उतना ही सफल माना जाएगा। इस प्रकार कक्षा–शिक्षण विशुद्ध रूप से शिक्षक के अधिकार क्षेत्र में आता है। इसका कतई यह आशय नहीं है कि कक्षा–शिक्षण में बच्चे की भूमिका नगण्य होती है।

शिक्षक की महत्ता व भूमिका के कमजोर होने के कारणों को भी समझना होगा। यह अचानक होने वाली घटना नहीं है। मूलतः इसकी जड़ें औपनिवेशिक काल में धंसी हुई हैं। ब्रिटिश शासनकाल से पूर्व भारत में शिक्षा का संचालन समाज द्वारा किया जाता था। शिक्षक की व्यवस्था भी समाज करता था। अंग्रेजों की मंशा ऐसी शिक्षा व्यवस्था कायम करने की थी जिसके माध्यम से ऐसे लोग तैयार हों जो उनके राज–काज में सहयोगी बन सकें। (यहां यह जिक्र करना भी जरूरी है कि सभी अंग्रेज अफसर जिन्होंने भारत की शिक्षा के बारे में सोचा उनके विचार एक से नहीं थे।) उन्होंने शिक्षा को समाज के लिए नहीं बल्कि अपनी नीतियों को पोषित करने के एक सशक्त माध्यम के रूप में स्थापित करने के प्रयास किए। इस प्रकार शिक्षा का संचालन समाज के हाथों से सत्ता के अधीन कर दिया गया। समूची शिक्षा व्यवस्था सरकार के नियंत्रण में कर दी गई। ऐसे में शिक्षक भला कैसे अछूता रह सकता था। उस पर भरोसा किए जाने की जगह उसे नियंत्रित किया जाने लगा। नौकरशाही के नियंत्रण ने शिक्षक की भूमिका और हैसियत को कम करने का काम किया।

आज शिक्षण की प्रक्रियाओं को बदलने की जरूरत है। हर बार सत्र के शुरू में अक्सर यह देखने को मिलता है कि विद्यालयों में शिक्षण कार्य इसलिए सुचारू रूप से नहीं हो पाता, क्योंकि पाठ्यपुस्तकें समय पर उपलब्ध नहीं करवाई जाती हैं। बिना इनके क्या और कैसे पढ़ाएं? ऐसा मान लिया गया है कि बिना पाठ्यपुस्तकों के शिक्षण कार्य संभव ही नहीं है। कम से कम प्रारंभिक स्तर पर पाठ्यपुस्तकों के अलावा कई ऐसे माध्यम हैं, जो शिक्षण कार्य को अधिक रोचक व प्रभावी बनाते हैं। जैसे– आस–पास का परिवेश, गांव, घर, समुदाय आदि। पाठ्यपुस्तकों पर बढ़ती निर्भरता ने भी शिक्षक को कमजोर करने का काम किया है। इससे कक्षा–शिक्षण के अन्य विकल्पों की ओर न तो ध्यान जाता है और न ही उन पर भरोसा करते हैं। शिक्षक, शिक्षक–प्रशिक्षणों में होने वाले बदलावों को समझने के लिए भी तैयार नहीं होते हैं। आखिर इन प्रशिक्षणों का मुख्य उद्देश्य है– शिक्षक का सशक्तीकरण। क्या शिक्षक केवल कक्षा–शिक्षण तक ही सीमित रह सकता है? क्या शिक्षा दर्शन व शिक्षा मनोविज्ञान जैसे विषयों के सिद्धांतों को गढ़ने व समझने का अधिकार केवल शिक्षाविद्ों को ही है, शिक्षकों को नहीं? सबसे बड़ा मनोवैज्ञानिक तो शिक्षक है, जिसका सीधा संबंध शिक्षार्थी से होता है। अतः आज शिक्षक को हर दृष्टि से सशक्त होने की जरूरत है– विचार, शिक्षण, विषयगत ज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र में आदि।

शिक्षा में सभी की अपनी–अपनी भूमिका है। पॉलिसी बनाने का काम सरकार का है, तो पेडागॉजी और करीकुलम एससीईआरटी तथा डायट के जिम्मे हैं। प्रैक्टिस का सम्पूर्ण काम शिक्षक का होता है। यद्यपि पाठ्यक्रम व पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में भी अब शिक्षकों को शामिल किया जाने लगा है। कक्षा में किस बच्चे को क्या और कैसे पढ़ाया जाना है, यह निर्णय विशुद्ध रूप से एक शिक्षक का ही होता

है और होना भी चाहिए। कक्षा में करवाई जाने वाली सभी गतिविधियों का संचालन आखिर शिक्षक ही तो करता है। कक्षा में सरकार या उसकी नीतियों का, राजनीतिक हस्तक्षेप जैसे तमाम कारणों का सीधे तौर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। हां, कुछेक कारण जरूर प्रत्यक्ष रूप से इसमें दखल देते हुए प्रतीत होते हैं। हमारे सामने कई उदाहरण हैं, उन शिक्षकों के जो विषम परिस्थितियों में बेहतर काम कर रहे हैं। यह कैसे संभव है उन सब कारणों के होते हुए, जिन्हें हम सबसे बड़ा बाधक मानते हैं। आखिर हर शिक्षक के सामने विसंगतियां किसी न किसी रूप में तो होती ही हैं। कौन से और कारण हैं कि किसी विद्यालय में सभी संसाधन उपलब्ध होते हुए, मानक के अनुसार पर्याप्त शिक्षक होते हुए और विद्यालय का सुगम जगह पर होते हुए भी, वहां के बच्चों का दक्षता स्तर अपेक्षानुरूप नहीं होता है।

दूसरी ओर, इसके विपरीत परिस्थितियों में भी कोई एकल शिक्षक बच्चों में उन सभी दक्षताओं को निखारने में सफल रहता है, जो उस स्तर पर अपेक्षित हैं। यद्यपि शिक्षा की गुणवत्ता के लिए विद्यालय भवन से लेकर बैठने की व्यवस्था तक और सुन्दर परिवेश से लेकर कंप्यूटर जैसे सभी पक्ष बहुत महत्त्वपूर्ण हैं जिन्हें नकारा नहीं जा सकता है। विद्यालय विकास में इन सभी की अपनी–अपनी महत्ता व भूमिका तो होती ही हैं। ऐसे तमाम उदाहरण हमें दिखाई देते हैं, विषम परिस्थितियों में भी बेहतर प्रदर्शन करने वाले विद्यालयों के और अनुकूल परिस्थितियों में भी बेहतर न कर पाने वाले विद्यालयों के। उपर्युक्त दोनों उदाहरण यह समझने के लिए पर्याप्त हैं कि शिक्षा में गुणवत्ता का मुख्य आधार शिक्षक ही है। एक शिक्षक की प्रतिबद्धता, लगन, मेहनत, प्रेरणा, प्रयास, लगातार सीखते रहने की ललक, इत्यादि ही वे केंद्रीय तत्व हैं, जो गुणवत्ता के लिए सर्वथा अनिवार्य हैं।

शिक्षक स्वयं को अधिक से अधिक सशक्त बनाकर, न केवल बाहरी हस्तक्षेप व प्रभाव को कम कर सकता है, बल्कि विद्यालय में कक्षा–शिक्षण व सभी गतिविधियों को बच्चों के सीखने पर केंद्रित कर सकता है। इससे शिक्षक का आत्मविश्वास और आत्मसम्मान बढ़ने के साथ–साथ उस पर समाज का भरोसा भी बढ़ने लगेगा। शिक्षक को स्वयं की हैसियत और भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानना होगा। उसे खुद ही स्वयं की पीठ थपथपाते हुए अपना मूल कार्य करते जाना है। शिक्षक को समझना होगा कि उसकी असल सफलता केवल कुछ फीसदी बच्चों का प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होना या राष्ट्रपति पुरस्कार मिलना नहीं है अपितु हर उस बच्चे का सीखना है, जो उसकी जिंदगी से गुजरता है। यह गुणात्मक शिक्षा की कसौटी भी है।

संजीव बिजल्वाण : अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, जिला संस्थान उत्तरकाशी (उत्तराखंड) में कार्यरत हैं।